Volume: 5 Issue: 7 Pages: 70-75

विद्यानिवास मिश्र और लोकसंस्कृति के आयाम

[*1] शोभा कौर और [2] संदीप यादव

[*1] प्रोफेसर, हिंदी विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

[2] हिंदी विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

Article Info.
E-ISSN: 2583-6528
Impact Factor (QJIF): 8.4
Peer Reviewed Journal
Available online:
www.alladvancejournal.com

Received: 22/June/2026
Accepted: 17/July/2026

***Corresponding Author**
शोभा कौर
प्रोफेसर, हिंदी विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

सारांश
लोक-संस्कृति मानव जाति के समग्र और संतुलित विकास के साथ-साथ सृष्टि के सभी तत्वों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की भावना से अभिप्रेरित होकर आगे बढ़ती है। जिस तरह वेदों और उपनिषदों की मूल प्रवृत्ति लोकोन्मुखी होती है, ठीक उसी तरह लोक-संस्कृति का आधार भी लोकमंगल की भावना से अभिपूरित है। लोक संस्कृति में अभिव्यक्त लोकप्रज्ञा किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, अपितु लोक की सामूहिक अभिव्यक्ति होती है। भारतीय साहित्य के प्रख्यात हस्ताक्षर पं. विद्यानिवास मिश्र भारतीय लोकसंस्कृति के सजग प्रहरी हैं, उनके लिए लोक केवल एक अध्ययन का विषय नहीं बल्कि वह एक जीवन-दृष्टि थी। उनका विचार है कि धार्मिक स्थान पर जाना और आडंबर करना ही धर्म नहीं है, अपितु ज़रूरतमंद की सहायता करना, अहंकार रहित होना और एक-दूसरे के प्रति संवेदनशील होना ही वास्तविक धर्म है। लोकसंस्कृति इसी 'नैतिक समाज का आधार होती है।

मुख्य शब्द: विद्यानिवास मिश्र, लोकसंस्कृति, शास्त्र, लोक, परंपरा, धर्म।

प्रस्तावना:

पंडित विद्यानिवास मिश्र भारतीय बौद्धिक परिदृश्य के उन विरल मनीषियों में से थे, जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से परंपरा और आधुनिकता, शास्त्र और लोक, तथा वैयक्तिकता और सामाजिकता के बीच एक अत्यंत सूक्ष्म और सघन संवाद स्थापित किया। 28 जनवरी, 1926 को उत्तर-प्रदेश के गोरखपुर जिले के पकड़डीहा ग्राम में जन्मे मिश्र जी का व्यक्तित्व केवल एक लेखक या विद्वान तक सीमित नहीं था, बल्कि वे भारतीय संस्कृति के एक ऐसे व्याख्याता थे जिन्होंने 'लोक' को उसके समग्र और जीवंत रूप में प्रतिष्ठित किया। उनकी शिक्षा प्रयाग विश्वविद्यालय और गोरखपुर विश्वविद्यालय में हुई, जहाँ उन्होंने संस्कृत और भाषाविज्ञान की गहराइयों को आत्मसात किया। राहुल सांकृत्यायन जैसे दिग्गज रचनाकार के निर्देशन में हिंदी कोश के संपादन कार्य से लेकर 'नवभारत टाइम्स'के संपादक, काशी विद्यापीठ और संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति, तथा राज्यसभा के मनोनीत सदस्य के रूप में उनकी यात्रा एक निरंतर सांस्कृतिक अनुष्ठान की तरह रही है। विद्यानिवास मिश्र की रचनाधर्मिता का मुख्य केंद्र 'लोकसंस्कृति' है। उनके लिए लोक केवल एक अध्ययन का विषय नहीं था बल्कि वह एक जीवन-दृष्टि थी। उन्होंने ललित निबंध की उस विधा को नई ऊंचाइयों पर पहुँचाया जहाँ शास्त्र का पांडित्य लोक की तरलता में घुल जाता है। उनके निबंधों में लोक का अर्थ केवल ग्रामीण परिवेश नहीं है, बल्कि वह एक ऐसी सामूहिक चेतना है जो भारत की आत्मा को निरंतर स्पंदित करती रहती है।

लोक की अवधारणा: फोक बनाम लोक

विद्यानिवास मिश्र के चिंतन में 'लोक' शब्द की व्याख्या अत्यंत मौलिक है। उन्होंने पश्चिमी समाजशास्त्रीय अवधारणा 'फोक' और भारतीय 'लोक' के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींची है। उनके अनुसार, 'फोक' जहाँ एक ओर संग्रहालय की वस्तु, अतीत का अवशेष या कोई आदिम अवशेष माना जाता है, वहीं भारतीय संदर्भ में 'लोक' वह है जो 'दृश्यमान' है, जो हमारे वर्तमान का हिस्सा है और जिसमें हम अपनी सांसें लेते हैं। लोक के आयामों को स्पष्ट करने के लिए मिश्र जी ने इसे तीन स्तरों पर परिभाषित किया है। प्रथम, वह जो हमारे सामने वर्तमान है; द्वितीय, वह जो हमारे अनुभवों में रचा-बसा है; और तृतीय, वह सामूहिक आचरण जो परंपरा के माध्यम से निरंतर प्रवाहित हो रहा है। उनके अनुसार, लोक वह 'महासमुद्र' है

जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त मानवीय मूल्य समाहित हैं। मिश्र जी ने बार-बार इस बात पर बल दिया कि लोक शब्द का तिरस्कार करना अपने ऊर्जा स्रोत को काटकर रख देने के समान है। उनके अनुसार, लोक वह शक्ति है जो आधुनिक भारतीय जनतंत्र को भी नैतिकता और संवेदनशीलता का आधार प्रदान कर सकती है।

लोक और शास्त्र का अन्वय एवं समन्वय

मिश्र जी के साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष 'लोक' और 'शास्त्र' का समन्वय है। वे संस्कृत के महान विद्वान थे, लेकिन उनकी विद्वत्ता कभी भी लोक की सहजता के मार्ग में बाधक नहीं बनी। मिश्र जी के जन्म-दिवस के अवसर पर वाराणसी में एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। डॉ. दयानिधि मिश्र के संपादकत्व में प्रकाशित पुस्तक 'लोक और शास्त्र: अन्वय और समन्वय' के विविध आलेख यह सिद्ध करते हैं कि भारतीय परंपरा में शास्त्र कभी भी लोक से कटा हुआ नहीं रहा है। 'भारत के लोक और शास्त्र' निबंध में मिश्र जी लिखते हैं, "हमारे शास्त्रकार

लोक की, गोचर संसार की कभी भी उपेक्षा नहीं करते थे, उनके उदाहरण प्रत्युदाहरण खुले हुए जीवन से आते थे, कुम्हार, उसका चाक, उसका घड़ा, जुलाहा, उसकी बेमा, उसकी तुरी, उसके ताने-बाने, उसका बयन (बुनाई), वस्त्र,

खेतिहर, उसके हल-बैल, उसके जोतने की प्रक्रिया, फसल काटने की प्रक्रिया, ये सब जिसने ध्यान से पहचाना न होगा, वह कोई भी शास्त्र नहीं समझ सकेगा। दूसरी ओर लोक भी शास्त्र का पूरक बनने के लिए शास्त्र द्वारा विस्मृत जीवन-पद्धति को, शास्त्र द्वारा सरल मान कर छोड़ी हुई पद्धति को पुनः उन्मीलित करता रहा है, शास्त्र के ठहराव को कभी झकझोरता, कभी उसको तोड़ता और कभी उसको अपने कन्धे पर ढोता भी रहा है। इसी के कारण विच्छिन्न शास्त्रीय परम्परा को सफल होने का अवसर प्राप्त होता रहता है।" [1] ध्यातव्य है कि शास्त्र जहाँ लोक के अनुभवों को सूत्रबद्ध करता है, वहीं लोक शास्त्र के सिद्धांतों को जीवन की सरलता में रूपांतरित कर देता है। उनकी दृष्टि में शास्त्र लोक का ही परिनिष्ठित रूप है। उनके ललित निबंधों में जहाँ एक ओर वेदों, उपनिषदों और कालिदास-भवभूति की सूक्तियों का प्रयोग मिलता है, वहीं दूसरी ओर भोजपुरी और अवधी के लोकगीतों की गूँज सुनाई देती है। यह संतुलन उनके लेखन को एक अनूठी 'रंजकता' प्रदान करता है। वे मानते थे कि उनके व्यक्तित्व में पितृपक्ष से शास्त्र के संस्कार और मातृपक्ष से लोक के संस्कार मिले हैं, जिनका समन्वय उनके पूरे साहित्य में दिखाई देता है।

ललित निबंध और लोक तत्व: विधागत नवीनता

विद्यानिवास मिश्र को आधुनिक हिंदी साहित्य में ललित निबंध विधा का शिखर पुरुष माना जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद मिश्र जी ने ही इस विधा को 'व्यक्तिव्यंजक' और 'आत्मव्यंजक' स्वरूप प्रदान किया । उनके निबंधों में 'ललित' केवल सौंदर्य का पर्याय नहीं है, बल्कि वह जीवन की उस मांगलिकता का प्रतीक है जो लोकमानस में रची-बसी है। मिश्र जी की भाषा शैली में जो 'गँवई गंध' है, वह लोकसंस्कृति के प्रति उनके गहरे अनुराग का परिणाम है । उन्होंने अपने निबंधों में पूर्वी उत्तर प्रदेश (भोजपुरी अंचल) और अवधी क्षेत्र की शब्दावली का व्यापक प्रयोग किया है । उनके लिए लोक भाषा व्याकरण या शब्दों की शुद्धता का खेल नहीं है, बल्कि वह 'भाव-प्रधान'अभिव्यक्ति है ।

तालिका 1: निबंध में प्रयुक्त आँचलिक संदर्भ

क्रम संख्या	लोक शब्द	सांस्कृतिक/आंचलिक संदर्भ	निबंध में प्रयोग/अर्थ
1.	टिकोरा	आम का कच्चा फल	बाल्यकाल और वसंत की स्मृतियाँ
2.	पुरइन	कमल का पत्ता	प्रकृति की कोमलता और लोक विश्वास
3.	होरहा	भुना हुआ अन्न	ग्रामीण सामूहिक उत्सव और खान-पान
4.	कँवलगट्टा	कमल का बीज	सौंदर्य और नैसर्गिकता
5.	थान	देवस्थान (मंदिर)	श्रद्धा और लोक आस्था का केंद्र
6.	कल्ले फूटना	अंकुरित होना	संवेदनशीलता और नवजीवन का प्रतीक
7.	पलिहर	रबी की तैयारी वाला खेत	चैती कटने के बाद का परिदृश्य

मिश्र जी के निबंधों में इस तरह के खाँटी देशज शब्दों का उपयोग व्यापक है, उनके निबंधों में प्रयुक्त ये शब्द मात्र शब्दावली नहीं हैं बल्कि वे उस परिवेश के बिंब हैं जिन्हें कोई भी परिनिष्ठित खड़ी बोली का शब्द प्रतिस्थापित नहीं कर सकता। 'कल्ले फूटना' जैसा मुहावरा जब वे संवेदनशीलता के लिए प्रयोग करते हैं, तो वह एक संपूर्ण जीवन-दर्शन को समेट लेता है।

लोकगीत और लोकमानस की अभिव्यक्ति

मिश्र जी के निबंधों का प्राण लोकगीत हैं। उन्होंने 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है'जैसे निबंध के माध्यम से यह दिखाया कि कैसे एक साधारण लोकगीत की पंक्ति भारतीय संस्कृति की गहरी चिंता और ममता का प्रतीक बन सकती है। कौशल्या की वह चिंता कि वन में राम का मुकुट भीग रहा होगा, वास्तव में लोकमानस की अपने आदर्शों के प्रति व्याकुलता है। मिश्र जी ने बुंदेलखंडी लोककथाओं और गीतों का भी संदर्भ लिया है, जैसे कुँवर हरदौल की कथा, जिन्हें मामा की प्रतिष्ठा प्राप्त है और जिनके चबूतरे पर आज भी विवाह का पहला निमंत्रण दिया जाता है। ये गीत और कथाएँ उनके निबंधों में केवल उदाहरण के लिए नहीं आते, बल्कि वे उस 'महासमिष्टि' का हिस्सा हैं जिससे लेखक स्वयं को जोड़कर देखता है ।

लोकसंस्कृति के विविध आयाम

विद्यानिवास मिश्र ने लोकसंस्कृति को केवल गीतों या कहानियों तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उन्होंने इसके विभिन्न आयामों—प्रकृति, ऋतुचक्र, उत्सव और पौराणिक पात्रों के लोक-स्वरूप—का व्यापक विश्लेषण किया है।

प्रकृति और पारिस्थितिक चेतना

मिश्र जी की दृष्टि में प्रकृति और मनुष्य के बीच कोई संघर्ष नहीं है; इसके विपरीत, वहाँ एक 'सहकारी आत्मीयता' है। वे पश्चिमी विचारधारा की आलोचना करते हैं जो मनुष्य को केंद्र में रखकर प्रकृति को मात्र एक उपभोग की वस्तु मानती है । उनके अनुसार, भारतीय लोक-चिंतन में सूर्य का प्रकाश और मनुष्य की बुद्धि का प्रकाश एक ही है; घास का ऊपर की ओर उगना मानवीय हृदय की आकांक्षाओं का प्रतिबिंब है।

उनके निबंधों में 'अरण्य संस्कृति' के प्रति गहरा अनुराग मिलता है। कदम, नीम, पीपल, तमाल और अमलतास जैसे वृक्ष उनके निबंधों में जीवित पात्रों की तरह आते हैं। 'संचारिणी' संग्रह में उन्होंने भारतीय नदियों और फूलों के सांस्कृतिक महत्व की तुलना अन्य संस्कृतियों से की है और यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय चेतना में प्रकृति का कण-कण ईश्वरीय सत्ता का अंश है। नदियों की दशा व दिशा देखकर

उनका मन खिन्न होता है, इस पर चिंता व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं, "अत्यन्त दुःख की बात है कि हमारा मन इतना बीमार हो गया है कि वह नदियों की उपेक्षा कर रहा है, प्रवाहधर्मी संस्कृति के मूल्यों की उपेक्षा कर रहा है, उसे यह आभास ही नहीं कि नदियाँ गँदली होती हैं तो संस्कृति गँदली होती है, नदियों की धार मन्द होती है तो संस्कृति की गति शिथिल होती है और हम नदियों को केवल अपनी अशुचिता देते हैं तो संस्कृति अशौच ग्रस्त होती है। हम कब स्वस्थ होंगे और नदी की पवित्रता की पूरी तरह रक्षा करने के लिए संकल्प लेंगे।" [2]

'टिकोरा' निबंध के माध्यम से वे लोकजीवन के विशुद्ध जीवन-व्यापार को उद्भाषित करते हैं। लोक में प्रकृति के प्रति प्रेम व साहचर्य की भावना है, उसके दोहन की लालसा नहीं। शुरुआती दो-तीन साल तक कलमी आमों की 'मोजर-की-मोजर' हाथ से मींज दी जाती है ताकि पेड़ कमज़ोर न हो। मिश्र जी लिखते हैं, "बस पेड़ बना रहे, ठूँठ होकर भी बना रहे, कोई हर्ज नहीं, नीचे की डालें सत्यनारायण की कथा में हवन के उपयोग के लिए छिनगा डाली जायँ, पेड़ सरहँस-सा ऊपर ताकता चला जाय।" [3] यहाँ आने वाले फल की अपेक्षा पेड़ का महत्त्व है जो मनुष्य को ऑक्सीजन से लेकर विविध प्रकार के साधनों से लैश रखता है। 'टिकोरा' का मन में ख़्याल आते ही गाँव का एक दृश्य सामने आ जाता है, जहाँ पर कई बच्चे मिलकर उस पर जूझ पड़े हैं और अपनी साधी हुई ढेलेबाज़ी का प्रदर्शन कर रहे हैं। एक ओर जहाँ ये बच्चे इसे क्षत-विक्षत कर रहे हैं वहीं दूसरी ओर पूरबी लोकसाहित्य की सजल दृष्टि भी दिखाई देती है –

"काँची अमिया न तुरिहा बलमु काँची अमिया
मोरे टिकोरवा न रसवा पगल हो
हियरा में गँठुली न अबले जगल हो
मोरे सुगापंखी सरिया के कुसुमी मजिठिया में
राँची धनिया न बोरिहा बलमु राँची धनिया।" [4]

मिश्र जी इस कच्ची अमिया (टिकोरा) को बचाकर रखना चाहते हैं क्योंकि यह रसाल की परिणति में सहकारिता निभाता है। इस निबंध में 'टिकोरा' जैसी वस्तु जो बहुधा हमारी दृष्टि से छूट जाती है, उसका इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया है कि किसी को भी उससे प्रेम हो जाये। उनकी इच्छा है कि आज के समय में खेती के प्रसार के लालच में जब बाग उजाड़ हो रही है तो बस्ती से बहुत दूर एक अकेले आम में 'टिकोरा' लगे तो उसे 'तृप्ति और चाह' भरी दो आँखें मिलती रहें। वे 'टिकोरा' को 'वसंत की सफलता' मानते हैं, जो नववर्ष की शुरुआत और मधुमास के चरमोत्कर्ष का प्रतीक है।

ऋतु चक्र और लोक उत्सव

मिश्र जी के लिए ऋतुएँ केवल मौसम का परिवर्तन नहीं हैं, बल्कि वे जीवन के विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति हैं। विशेष रूप से 'फाल्गुन' और 'वसंत' उनके निबंधों में बार-बार आते हैं । होली (फगुआ) को वे एक ऐसा त्योहार मानते हैं जो सामाजिक ऊँच-नीच और भेदभाव को मिटाकर मनुष्य को उसके सहज रूप में ले आता है। 'फागुन दुइ रे दिना' संकलन में वे वसंत के उत्सवों और शिवरात्रि की चर्चा करते हुए शिव के 'यायावर' और 'बौराह' स्वरूप का चित्रण करते हैं। उनके अनुसार, उत्सवप्रियता लोकमानस की वह संजीवनी है जो उसे कठिन संघर्षों के बीच भी जीवंत बनाए रखती है।

लोक के आराध्य: राम, कृष्ण और शिव

मिश्र जी हिन्दू देवताओं-राम-कृष्ण और शिव से व हिन्दुओं के तीर्थों और मन्दिरों से गहरे जुड़े हुए थे। लोहिया को उद्धृत करते हुए वे कहते थे कि 'राम के पीछे चला जाता है और कृष्ण की चाह होती है।' [5] प्रख्यात समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया लिखते हैं, "हे भारतमाता! हमें शिव का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो, और राम का कर्म और वचन दो। हमें असीम मस्तिष्क और उन्मुक्त हृदय के साथ-साथ जीवन की मर्यादा से रचो।" [6] मिश्र जी ने पौराणिक पात्रों का लोक-पुनर्पाठ किया है। उनके राम केवल महलों के राजा नहीं हैं, बल्कि वे 'कण-कण और जन-जन में रम रहे हैं।' इसी प्रकार, उनके कृष्ण 'छलिया' हैं जो अहंकार को तोड़ते हैं, और उनके शिव एक ऐसे यायावर हैं जो अपने भक्तों से उनके मद (अहंकार) की भीख माँगते हैं। मिश्र जी के अनुसार, ये पात्र लोक के अनुभवों के माध्यम से विकसित हुए हैं और वे हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं।

तालिका 2: पौराणिक पात्रों के लोक संदर्भ

क्रम सं.	पौराणिक पात्र	लोक-स्वरूप और विशेषता	निबंधात्मक संदर्भ
1.	राम	जन-जन में रमने वाले, ममत्व और चिंता के केंद्र	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
2.	कृष्ण	अहंकार के भंजक, दुर्निवार आकर्षण वाले छलिया	बंजारा मन, कृष्ण की लीला
3.	शिव	यायावर, बौराह वेष, अहंकार की भीख माँगने वाले	फागुन दुइ रे दिना
4.	सीता	दुख और सहनशीलता की लोक-प्रतिमा	सीता के गीत, लोक संवेदना

आधुनिकता और उपभोक्तावाद की चुनौती

विद्यानिवास मिश्र आधुनिकता के प्रबल आलोचक थे, विशेषकर उस आधुनिकता के जो मनुष्य को उसकी जड़ों से काट देती है। उन्होंने उपभोक्तावादी संस्कृति के 'खोखलेपन' को बहुत क़रीब से देखा था और वे मानते थे कि यह सभ्यता हमें 'अवसाद, निराशा और एकाकीपन' की ओर ले जा रही है। औपनिवेशिक मानसिकता के चलते भारतीय समाज में बहुधा आधुनिकता को पाश्चात्य संस्कृति से जोड़कर देखा जाने लगा है परंतु मिश्र जी इस विचार से बहुत इत्तिफ़ाक़ नहीं रखते हैं। वे लिखते हैं, "जो लोग इस भय से कि पश्चिम का समाज हमें आधुनिक नहीं मानेगा अगर हम उसकी पूरी की पूरी आधुनिकता का बाना नहीं धारण कर लेंगे, वे आधुनिक नहीं माने जा सकते, वे आधुनिकता के शिलीकृत जड़ अवशेष फासिल ही माने जायेंगे, अपने ही जीवन में अपने ही समय में। पश्चिम का आधुनिक बोध पश्चिम की समस्याओं से उद्भूत हुआ है, हमारा हमारी समस्याओं से।" [7] आधुनिकता और उपभोक्तावाद के इस दौर में मिश्र जी आधुनिकता की भारतीय दृष्टि की वकालत करते हैं। वे सचेत साक्षर आदमी को ग्राम्य परिवेश के जाहिल जपट आदमी की अचेत विश्वदृष्टि' भी देना चाहते हैं।

परंपरा का पुनर्नवीकरण

उनका तर्क था कि लोकसंस्कृति का समय चला गया, ऐसा कहना अपने ऊर्जा स्रोत को काटकर रख देने के समान है। वे परंपरा को जड़ता नहीं मानते थे; उनके लिए परंपरा 'स्मरण' है, लेकिन यह स्मरण मोहासक्ति के रूप में नहीं, बल्कि'संकल्प के पुनर्नवीकरण' के रूप में होना चाहिए। उन्होंने पश्चिमी देशों की'परिवारहीनता' और भारतीय समाज में उसके बढ़ते प्रभाव पर गहरी चिंता व्यक्त की। मिश्र जी का मानना था कि आधुनिकता के अभिशाप से समाज की रक्षा केवल लोक-संस्कार ही कर सकते हैं। उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र को सनातन जीवन मूल्यों के आधार पर रचने का पक्ष लिया, जहाँ 'भोग' मात्र को प्रगति का पैमाना नहीं माना जाता।

धर्म और नैतिकता का लोक-पक्ष

मिश्र जी के लिए धर्म का अर्थ मंदिर जाना या बाह्य आडंबर करना नहीं था। उनका मानना था कि "धर्म एक ग़लत अनुवाद के कारण अवमूल्यन का शिकार हो गया है।" [8] उनके अनुसार रिलीजन के पर्याय के रूप में इसके उपयोग ने, इसका मूल्य कम कर दिया है। वे 'धारयति इति धर्मः' (जो धारण करने योग्य है, वही धर्म है) के सिद्धांत में विश्वास करते थे। वे लिखते हैं, "धर्म को दूसरा आश्वासन मिलता है, यहां-वहां अनाम अनपहचाने बिखरे ऐसे लोगों से जो वेश से वैरागी या साधु न हों, मन से वैरागी और फ़क़ीर होते हैं और उससे अधिक संपूर्ण जीवन के अनुरागी होते हैं। आपको अभी भी ऐसे आदमी मिल जाएंगे, स्त्रियां अधिक पुरुष कम जो शायद मंदिर, मस्जिद न जाते हों शायद विधिवत कोई पूजा ना करते हों पर जो दूसरे के दुख में कातर ही नहीं होते बल्कि सहायता के लिए दौड़ते रहते हैं अनथक दौड़ते रहते हैं, भोजन में बराबर सबसे पीछे खाते हैं, सबसे अंत में सोते हैं, सबसे पहले उठते हैं और उठते ही सबसे पहले उनकी चिंता करते हैं जो बेजुबान हैं, अबोध हैं, पशु-पक्षी हैं, पौधे हैं, बच्चे हैं, असहाय हैं या बीमार हैं।" [9] मिश्र जी के अनुसार, ज़रूरतमंद की सहायता करना, अहंकार रहित होना और एक-दूसरे के प्रति संवेदनशील होना ही वास्तविक धर्म है। लोकसंस्कृति इसी 'नैतिक समाज' का आधार होती है।

लोकसंस्कृति का संरक्षण और भविष्य की दृष्टि

लोकसंस्कृति व लोकसाहित्य के बारे में चर्चा करते हुए पं. विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं कि "भारतवर्ष में इस शताब्दी के प्रारंभ में ही इसी दृष्टि का प्राधान्य था और समाज में गांव में रहने वाले जनों के प्रति एक रूमानी लगाव पनपा इस
कारण लोक साहित्य के प्रति एक अतिरिक्त आकर्षण बढ़ा। लोग वार्ता में रुचि बीसवीं सदी के प्रारंभ से दो मुख्य कारणों से बढ़ी। एक समाजशास्त्रीय या नृतत्व शास्त्रीय दृष्टि का प्रसार हो रहा था, लुप्त हो रही गीतों, धुनों और कलाओं में संग्रही दृष्टि प्रबल हो रही थी, और दूसरा कारण यह था कि गांव की ओर वापस लौटने का भावनात्मक पक्ष कृत्रिम पुनर्जागरण की प्रतिक्रिया के रूप में उभर रहा था। पहले पक्ष ने लोक की सर्जनात्मक प्रतिभा की उपेक्षा की, उसे लोक साहित्य के माध्यम से एक समानांतर सर्वहारा संस्कृति की खोज करनी थी। दूसरे पक्ष ने लोक साहित्य विशेष रूप से लोक शक्ति को अतिशय प्रशंसा के भाव से देखना शुरू किया। लोग उसके आगे बड़े-बड़े कवियों की प्रतिभा को नगण्य समझने लगे। दोनों कारणों से लोक और साहित्य परस्पर पूरक होते, इसके स्थान पर दो पृथक
सत्ताएं या परंपराएं चलायी जाने लगी। शोध के स्तर पर थोड़ा बहुत प्रयत्न हुआ कि अमुक-अमुक कवि में इतना प्रतिशत लोक तत्व है इसकी पैमाइश की जाए, परंतु जातीय प्रतिभा में कोई विभाजन नहीं, इसकी पहचान खोजी गई। आज लोक साहित्य में सबसे मर्म स्पर्शी अंश काव्य और कथा स्वाद बदलने के साधन मात्र या नए शिल्प के उपादान के रूप में रह गए हैं।" [10] मिश्र जी केवल अतीत के खोजी नहीं थे, बल्कि वे भविष्य के प्रति भी उतने ही सचेत थे। उनका मानना था कि लोकसंस्कृति का संरक्षण केवल गीतों को रिकॉर्ड करने या कहानियों को लिखने से नहीं होगा, बल्कि उसे 'व्यवहार' में लाने से होगा।

लोक-विज्ञान और वैश्विक संदर्भ

मिश्र जी ने 'लोक-विज्ञान' के आयामों पर भी चिंतन किया। उन्होंने जोर देकर कहा कि 'फोकलोर' और 'लोक' में जमीन-आसमान का अंतर है। वे चाहते थे कि लोक साहित्य का अध्ययन बाहरी दबाव या अकादमिक मजबूरी से नहीं, बल्कि आंतरिक रुचि से होना चाहिए। उन्होंने भारतीय 'अखंडतावादी' दृष्टि और 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना को आधुनिक राजनीति और समाज के लिए अनिवार्य माना। विदेशी प्रवास के दौरान भी उन्होंने उपभोक्तावादी संस्कृति के खोखलेपन को परखा और भारतीय मानुष-महिमा को बचाने के लिए अपनी प्रतिभा का उपयोग किया। उनके लिए भारत 'श्रेष्ठता के दंभ का भारत' नहीं था, बल्कि वह एक ऐसा भारत था जो सबको अपने में समेटने वाला और सबके कल्याण की कामना करने वाला है ।

लोक के चिरंतन स्वर

पंडित विद्यानिवास मिश्र का साहित्य भारतीय मेधा का वह उच्छ्वास है जिसमें वेदों की ऋचाएं और कजरी के बोल एक साथ स्पंदित होते हैं। उन्होंने अपनी लेखनी से यह सिद्ध कर दिया कि लोकसंस्कृति कोई पिछड़ा हुआ विचार नहीं है, बल्कि वह एक 'जीवंत संस्कृति' का अनिवार्य अंग है। उनके निबंध हमें उस ऊर्जा स्रोत की ओर वापस ले जाते हैं जहाँ मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर के बीच एक सहज सामंजस्य है। विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में लोकजीवन की सुगंध, दार्शनिक गहराई और आंचलिक भाषा का अनूठा संगम मिलता है। उनके प्रमुख निबंधों से कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण और अंश नीचे दिए गए हैं:

1. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है (ममत्व और सांस्कृतिक चिंता)

यह उनके सर्वश्रेष्ठ निबन्धों में से एक है। लोक-व्यवहार को परम्परा और लोक संस्कृति से जोड़ने की अनूठी बानगी है यह रचना। हर पीढ़ी अपनी सन्तान के कुशलक्षेम और सुरक्षा के प्रति चिन्तित होती है। इस प्रसिद्ध निबंध में लेखक एक पुराने लोकगीत की पंक्ति के माध्यम से उनकी गहरी चिंता व्यक्त करते हैं:

"मोरे राम के भीजै मुकुटवा,
लछिमन के पटुकवा हो राम,
मोरी सीता के भीजै सेनुरवा,
त राम घर लौटहिं" [11]

लेखक इस गीत के माध्यम से समझाते हैं कि लोकमानस के लिए राम का मुकुट केवल आभूषण नहीं, बल्कि 'ऐश्वर्य' और 'दायित्व' का प्रतीक है। इस निबंध विशेष का विश्लेषण करते हुए प्रो. कुमुद शर्मा लिखती हैं कि "राम भीगे तो भीगे, राम के उत्कर्ष की कल्पना (मुकुट) न भीगे। वह हर बारिश में, हर दुर्दिन में सुरक्षित रहे।" [12] मिश्र जी ने पौराणिक पात्रों का लोक-पुनर्पाठ किया है। उनके राम केवल महलों के राजा नहीं हैं, बल्कि वे 'कण-कण और जन-जन में रम रहे हैं।' लोकगीतों में राम का वनवास एक व्यक्तिगत दुख नहीं, बल्कि पूरे समुदाय की पीड़ा बन जाता है। उनके वनगमन के बारे में लोकमानस कहता है कि 'रघुवर संगे जाब, हम न अवध में रहबै' अर्थात् हम भी राम के साथ चलेंगे, हमें अवध में नहीं रहना है।वहीं कुछ तो इस हद तक नाराज़ हो जाते हैं कि आक्रोश व तंज के स्वर में कहते हैं, 'राम बेईमान अकेले छोड़ गइले।" [13] यहाँ लोक इस बात से दुखी है कि राम ने सिर्फ़ लक्ष्मण और सीता को अपना समझा और हमें अकेला छोड़ गए।

2. फागुन दुइ रे दिना (शिव का लोक-स्वरूप)

इस निबंध संग्रह में 'अपना अहंकार इसमें डाल दो' शीर्षक से लिखे निबंध में वे भगवान शिव को एक 'यायावर' और 'भिखमंगे' के रूप में चित्रित करते हैं जो संसार से 'अहंकार की भीख' माँगते हैं । वे लिखते हैं, "शिव हमारी गाथाओं में बड़े यायावर हैं। बस जब मन में आया, बैल पर बोझा लादा और पार्वती संग निकल पड़े, बौराह वेश में। लोग ऐसे शिव को पहचान नहीं पाते। ऐसे यायावर विरूपिए को कौन शिव मानेगा? वह भी कभी-कभी हाथ में खप्पर लिए। ऐसा भिखमंगा क्या शिव है?" [14] इसी निबंध में आगे, इन पंक्तियों को विवेचित करते हुए मिश्र जी लिखते हैं – "हाँ, यह जो भीख मांग रहा है, वह अहंकार की भीख है। लाओ, अपना अहंकार इसमें डाल दो। उसे सब जगह भीख नहीं मिलती। कभी-कभी वह बहुत ऐश्वर्य देता है

और पार्वती बिगड़ती हैं। क्या आप अपात्र को देते हैं? शिव हंसते हैं, कहते हैं, इस ऐश्वर्य की गति जानती हो, क्या है? मद है। और मद की गति तो कागभुसुंडि से पूछो, रावण से पूछो, बाणासुर से पूछो।" [15] इन पंक्तियों का औचित्य समझने के लिए आगे की पंक्तियाँ ग़ौरतलब हैं; मिश्र जी लिखते हैं – "पार्वती छेड़ती हैं कि देवताओं को सताने वालों को आप इतना प्रतापी क्यों बनाते हैं? शिव अट्टाहास कर उठते हैं, उन्हें प्रतापी न बनाएँ तो देवता आलसी हो जाएँ, उन्हें झकझोरने के लिए कुछ कौतुक करना पड़ता है।" [16] यह मिश्र जी की मौलिक उद्भावना है, विवेच्य प्रसंग पौराणिक हैं परंतु आज भी प्रासंगिक है। इन कथाओं के माध्यम से मिश्र जी ने साहित्य के पाठकों को भारतीय संस्कृति का मर्म समझाने का प्रयास किया है।

3. आँगन का पंछी और बनजारा मन (सहजता और संवेदनशीलता)

यहाँ गौरैया (चिड़िया) को सादगी और मंगल का प्रतीक माना गया है। लेखक चीन में गौरैया मारने के अभियान का जिक्र करते हुए इसे 'अमानवीय' बताते हैं। उनके अनुसार, "जिस घर में गौरैया अपना घोंसला नहीं बनाती वह घर 'निर्वंश' (बिना संतान वाला) हो जाता है।" [17] वे गौरैया की तुलना तुलसी के पौधे से करते हैं, जिसमें कोई विशेष रूप-रंग नहीं पर वह आँगन का दुःख-दर्द बाँटती है।

4. मैंने सिल पहुंचाई (आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समृद्धि की आधार शिला)

मिश्र जी सिल को आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समृद्धि की आधार शिला के रूप में दिखाते हैं और कहते हैं कि यह पूरी जीवन यात्रा सिल ढोने वाली यात्रा है। सिल की अपेक्षा लोढ़े का अधिक महत्त्व है, लोढ़े के परिछन के बाद ही नयी बहू घर में प्रवेश करती है और गृहिणी परिवार की सत्ता पाती है। लोढ़ा शासन का प्रतीक है। इस निबंध के माध्यम से मिश्र जी लोकजीवन में व्याप्त विविध लोक विश्वासों में से एक लोकविश्वास का चित्रण करते हैं। लोक में 'लोढ़े' का टूटना अशुभ का संकेत माना जाता है। वे लिखते हैं, "लोढ़ा का फूटना घर के मालिक के लिए अशुभ है। इसलिए लोढ़ा बड़े जतन से रखने का विधान है।" [18] ग़ौरतलब है कि किसी सामाजिक के आग्रह पर मँगवायी गई सिल जैसी साधारण-सी बात को मिश्र जी ने बहुआयामी रूप दिया है। सरकारी नौकरी करते हुए उन्हें जो काम करना पड़ा, वह सरकारी छिनहरों (पत्थर छिननेवाले) के रास्ते उनके पास तक आती थी। सिल को प्रतीक के रूप में इस्तेमाल करते हुए यहाँ उन्होंने उस भ्रष्ट तंत्र की ओर भी इशारा किया है कि जहाँ पर लालकिले की सिल को शंकरगढ़ की सिल के नाम पर बेचा जाता है, अर्थात् निज हितार्थ अयोग्य को भी मूल्यवान बताना। इसी निबंध में वे उस शिक्षा प्रणाली पर भी तंज कसते हैं, जहाँ ज्ञान प्रकाश की भाँति व्यापक नहीं अपितु पाठ्यक्रम की चौहद्दी में फँसा हुआ है। विश्वविद्यालयों की अनुसंधान पद्धति के बारे में वे कहते हैं, "रिसर्च की सिल पहुँचाने का काम बड़े धीरज का काम है। इसे करना तभी शक्य है, जब आप अपनी कुल विरासत फूंककर दूसरे के दत्तकपुत्र बनें, जब आप सेवाधर्म में दीक्षित हों, विशेषकर यौवनलोभी वृद्ध संस्कारों के तैलमर्दन की शिक्षा प्राप्त करके आप इस धर्म में दीक्षित हों, जब आप शान को निरन्तर बाँटते-बाँटते ऐसा बना दें कि लोढ़े के साथ उठ जाय, जब आप अपना अशेष पानी, अशेष धीरज, अशेष प्रतिभा चुका देने के लिए कटिबद्ध हों, और जब आप निखिल अहंता समर्पित करने के लिए आतुर हो जाएँ।" [19] विश्वविद्यालयी प्रशासन तंत्र के बारे में वे कहते हैं, "रिसर्च की बुढ़िया मालकिन तो इतनी कठकरेजी है कि वह सिल रोज़ धुलवाती है, हल्दी मसाला अपने घर-खर्च तक के लिए पिसवाती है, फिर उसे ताख पर रखवाती है और रोज़-रोज़ सामने उठवाती है और बेगार करवाती है।" [20] ध्यातव्य है कि मिश्र जी स्वयं भी इस विश्वविद्यालयी प्रशासन से गहरे तौर पर संबद्ध रहे, अतः इस तंत्र में होने वाले भ्रष्टाचार व धांधली की सहज अभिव्यक्ति भी उनके ललित निबंधों में हुई है।

5. तुम चन्दन हम पानी (भक्ति और आत्म-समर्पण)

इस निबंध में लेखक बचपन की स्मृतियों और चन्दन घिसने के अनुष्ठान के माध्यम से दार्शनिक बात कहते हैं, हे प्रभु, तुम चन्दन, हम पानी। वे लिखते हैं, "सोचता हूँ प्रभुजी चन्दन क्यों हैं? हम जिनके प्रति अपने को अर्पित कर रहे हैं, उन्हें अपने जीवन के साथ घिसने में सार्थकता क्या है? मुझे कभी-कभी तब यह ध्यान आता है कि काठ के टुकड़े की तरह सामान्य रूप से हमारे अंतस् के कोने में पड़ा हुआ चिदंश जब तक हमारे जीवन के साथ संपृक्त नहीं होता, तब तक वह निर्गुण, निरामोद और निर्व्यक्त बना रहता है, ज्यों ही वह इस पार्थिव शरीर के शिलाखण्ड पर जीवन के छिड़काव से बार-बार रगड़ खाने लगता है, त्यों ही उसका गुण, उसका आमोद और उसका चैतन्य अभिव्यक्त हो उठते हैं। विश्वात्मा की सुषुप्त शक्ति स्फुरित हो जाती है।" [21] ध्यातव्य है कि चन्दन जब पानी की सहायता से पत्थर पर रगड़ा जाता है, तभी सुगन्धित द्रव्य प्राप्त होता है। वे इसे 'विश्वभावना' का प्रतीक मानते हुए कहते हैं कि जब हम स्वयं को तुच्छ (पानी) और ईश्वर को महान (चन्दन) मानकर समर्पित होते हैं, तभी जीवन में सार्थकता और शीतलता आती है।

6. आंचलिक भाषा और मुहावरों के उदाहरण

मिश्र जी ने ऐसे लोक-शब्दों का प्रयोग किया है जिनका कोई विकल्प नहीं हो सकता। कल्ले फूटना: वे इसे गहरी संवेदनशीलता के प्रतीक के रूप में उपयोग करते हैं (जैसे- गाँठ-गाँठ से कल्ले फूटना)। आंचलिक शब्दावली: उनके निबंधों में 'पुरइन' (कमल का पत्ता), 'टिकोरा' (कच्चा आम), 'होरहा' (भुना हुआ अन्न), 'थान' (देवस्थान) और 'रपटा' (छोटा पुल) जैसे शब्दों का बहुत सटीक प्रयोग मिलता है।

7. लोकगीतों के संदर्भ

सीता निर्वासन: "अइसने पुरुषवा के मुहवाँ न देखब जेहि गर्भ दीन्ह निकार" (ऐसे पुरुष का मुँह नहीं देखूँगी जिसने अपनी गर्भवती पत्नी को निकाल दिया)। यहाँ वे राम के प्रति लोक की नाराजगी को दिखाते हैं। बुंदेली लोकगाथा: कुँवर हरदौल के लिए गाए जाने वाले गीत "नेउते आयो हो रे बीरन तुम या काज बनायो" के माध्यम से वे लोक-आस्था का चित्रण करते हैं। इसी तरह मिश्र जी के विपुल साहित्य में बहुतेरे लोकगीतों के उदाहरण दृष्टव्य हैं परंतु यहाँ एक लोकगीत विशेष का उल्लेख किया जा रहा है। कोई भी व्यक्ति जब देवी के थान पर जाता है तो वह वादी व जड़ होकर नहीं जाता बल्कि इसके विपरीत सहज भाव से लड़ने जाता है कि मैं तुम्हारा बालक/बालिका हूँ, तुमने मेरे साथ ऐसा क्यों किया? आदि शंकराचार्य भी माँ के सामने उपालंभ करते हुए कहते हैं कि तुम करुणा की खान हो, सर्वज्ञ हो इसके बावजूद अपने बच्चों की मूल शांति का उपाय तुम्हें मालूम नहीं है? यह विचार जितना अबोध है उतना ही सचेत भी, इसमें शंकराचार्य का ज्ञान भी दीपित होता है और एक महाभाव भी। 'भारत में मातृदेवी की प्रतिष्ठा' नामक निबंध में मिश्र जी बताते हैं कि हमारे गाँव-देहात के लोकगीतों में यह दर्शन किस रूप में अभिव्यक्त हुआ है, उदाहरण इस प्रकार है–

"महिमा अमित तुम्हारी भवानी मैया
बेला की कलियाँ कइसे चढ़ाई
भवरन ने डारी है जुठारी।
दूध-बतासा कइसे चढ़ाई
बछरन ने डारी है जुठारी।
मेवा मिठाई कइसे चढ़ाई
बलकन ते डारी है जुठारी।

चुनरी पियरी कइसे चढ़ाई
पनिया ने डारी है जुठारी।
अपने के मैया कइसे चढ़ाई
अगिया ने डारी है जुठारी।" [22]

इस गीत के माध्यम से देवी स्तुति करती हुई भक्तिन कहती है कि हे देवी आपकी महिमा अपार है लेकिन मैं आपके लिए नैवेद्य तैयार करने में अक्षम हूँ क्योंकि सभी कुछ तो जूठा हो गया है। वह स्वयं को भी अर्पित नहीं कर सकती क्योंकि अग्नि के सामने संकल्प लेने से वह भी तो जूठी हो गई है। अतः वह निष्काम भाव से देवी स्तुति करती है, शंकराचार्य की भाँति वह भी मानती है कि देवी सब कुछ जानती ही हैं, साथ ही वह तमाम आडंबरों को कटघरे में खड़ा करती है। उनका देहावसान 14 फरवरी, 2005 को हुआ, लेकिन उनके द्वारा रचित साहित्य आज भी हमें यह याद दिलाता है कि 'लोक संस्कृति के बिना एक स्वस्थ समाज की कल्पना नहीं की जा सकती।' उनके निबंध केवल पठनीय नहीं हैं, बल्कि वे हमारे संस्कारों को परिष्कृत करने और हमें अपनी जड़ों से जोड़े रखने के महती साधन हैं। मिश्र जी वास्तव में लोक के वह स्वर थे जिन्होंने 'लोक' को 'आलोक' (प्रकाश) में बदलने का संकल्प लिया था। विद्यानिवास मिश्र की विरासत आज भी नवगीतकारों, सांस्कृतिक चिंतकों और भाषाविदों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है। उनका मूल्य-बोध आज न सिर्फ प्रासंगिक है, बल्कि एक दिशाहीन आधुनिक समाज के लिए अत्यंत आवश्यक भी है। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से जो 'लोक-दर्शन' प्रस्तुत किया, वह भारतीय अस्मिता को वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का एक सफल प्रयास है।

संदर्भ:

1. मिश्र, विद्यानिवास (2025), भारतीयता की पहचान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 42
2. मिश्र, विद्यानिवास (2014), संचारिणी, बसंत पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 56
3. मिश्र, विद्यानिवास (1981), मेरे निबंध मेरी पसंद के, कौशाम्बी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 11-12
4. मिश्र, विद्यानिवास (1981), मेरे निबंध मेरी पसंद के, कौशाम्बी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 12
5. सं. त्रिपाठी, नागेन्द्र शेखर पति (2026), इन्द्रप्रस्थ भारती, वर्ष 38, अंक 2-3, हिन्दी अकादमी, दिल्ली, पृ. 56
6. सं. त्रिपाठी, नागेन्द्र शेखर पति (2026), इन्द्रप्रस्थ भारती, वर्ष 38, अंक 2-3, हिन्दी अकादमी, दिल्ली, पृ. 56
7. मिश्र, विद्यानिवास (2014), संचारिणी, बसंत पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 23
8. मिश्र, विद्यानिवास (2014), संचारिणी, बसंत पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ. 35
9. मिश्र, विद्यानिवास (2006), भारतीय संस्कृति के आधार, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 68-69
10. मिश्र, विद्यानिवास (2006), भारतीय संस्कृति के आधार, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 52
11. मिश्र, विद्यानिवास (1976), मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, नेशनल पेपर बैक्स, दिल्ली, पृ. 105
12. सं. त्रिपाठी, नागेन्द्र शेखर पति (2026), इन्द्रप्रस्थ भारती, वर्ष 38, अंक 2-3, हिन्दी अकादमी, दिल्ली, पृ. 56
13. मिश्र, विद्यानिवास (1976), मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, नेशनल पेपर बैक्स, दिल्ली, पृ. 80
14. मिश्र, विद्यानिवास (1994), फागुन दुई रे दिना, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 35
15. मिश्र, विद्यानिवास (1994), फागुन दुई रे दिना, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 37
16. मिश्र, विद्यानिवास (1994), फागुन दुई रे दिना, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 37
17. मिश्र, विद्यानिवास (2012), आँगन का पंछी और बनजारा मन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ. 9
18. मिश्र, विद्यानिवास (1981), मेरे निबंध मेरी पसंद के, कौशाम्बी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 81
19. मिश्र, विद्यानिवास (1981), मेरे निबंध मेरी पसंद के, कौशाम्बी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 83
20. मिश्र, विद्यानिवास (1981), मेरे निबंध मेरी पसंद के, कौशाम्बी प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 83
21. मिश्र, विद्यानिवास (1957), तुम चंदन हम पानी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ. 125
22. मिश्र, विद्यानिवास (2025), भारतीयता की पहचान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 100